परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू

पत्रिका की संवाद शृंखला की यह चौथी परिचर्चा है और विषय है– 'परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू'। यह संवाद भोपाल, मध्यप्रदेश में आयोजित किया गया। संवाद में शासकीय उत्कृष्ट विद्यालय भोपाल के प्राचार्य सुधाकर पाराशर, राज्य शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद, राज्य शिक्षा केन्द्र, भोपाल के व्याख्याता राजेन्द्र असाटी, एकलव्य फ़ाउण्डेशन की सीनियर फ़ेलो रश्मि पालीवाल, शासकीय ज्ञानोदय विद्यालय होशंगाबाद के शिक्षक मुकेश मालवीय एवं माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय भोपाल के रजिस्ट्रार दीपेन्द्र बघेल ने भागीदारी की। संवाद का संचालन रश्मि पालीवाल ने किया है। अनिल सिंह ने संवाद का समन्वय किया है।

परिचर्चा में 'परीक्षा और शिक्षा' विषय के विविध पहलुओं पर बातचीत हुई। विषयवस्तु विस्तृत होने की वजह से इसे दो भागों में प्रकाशित किया गया है। पिछले चौथे अंक में प्रकाशित पहले भाग में परीक्षा को लेकर प्रतिभागियों के निजी अनुभव, और समय के साथ इस पद्धति में आए बदलाव से जुड़े नज़रिये, समाज में बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, सरकारी तंत्र में शिक्षकों की स्थिति व सोच और परीक्षा का स्वरूप व वैकल्पिक परिकल्पनाओं से जुड़ी बातचीत की गई थी।

परिचर्चा के भाग-दो में 'परीक्षा और शिक्षा' के मसलों मुख्यतः ओपन बुक परीक्षा, पास-फ़ेल की नीति और प्रयोगधर्मी स्कूलों से जुड़ी बातचीत की गई है।

रश्मि पालीवाल : परीक्षा पद्धति के मुद्दे पर जब हम बात कर रहे हैं तो क्या सुझाव आए हैं, वो देख लेते हैं– एक तो परीक्षा लेने के तरीक़े में सहजता की बात हमने की। दूसरी तरफ़ भाषा की बात हुई कि प्रश्नों की भाषा कैसी हो। यह भी चर्चा हुई कि परीक्षा कोई साल में एक बार होने वाली चीज़ नहीं। यदि लगातार ऐसी पढ़ाई होती रहेगी तो परीक्षा लेना कुछ अलग नहीं लगेगा और सहजता बनी रहेगी। किन चीज़ों का आकलन किया जाना चाहिए, इसपर विस्तार से बात हुई क्योंकि नए जमाने में कौशल और पैमाने बदल गए हैं। इन बदलते हुए कौशलों को हम किस तरह के मूल्य दें और कैसे आकलन की कोशिश करें। इसके अलावा भी क्या कुछ सुझाव हमारे मन में हैं? क्योंकि इवैल्युएशन पर एनसीएफ़ का जो पोज़ीशन पेपर है उसमें लिखा है कि ओपन बुक एक्ज़ाम का काफ़ी महत्त्व है। वो उपयोगी प्रणाली हो सकती है। हमें धीरे-धीरे आगे चलकर उसे अपनाने की कोशिश करनी चाहिए। मैंने पिछले 10 सालों में इस तरफ़ कोई क़दम बढ़ते नहीं देखा। इसके बारे में क्या आप लोग कुछ विचार करना चाहेंगे? क्योंकि ये जो रटना है, किताब से जुड़ जाना है, बँध जाना है, ये सारी बातें इसलिए होती हैं क्योंकि हम क्लोज़ बुक ले रहे हैं। क्या हम इस समस्या के सन्दर्भ में ओपन बुक को एक उदाहरण के रूप में विचारणीय पाते हैं?

राजेंद्र : मैं ओपन बुक से जुड़ा अपना एक अनुभव बताना चाहूँगा। एक-दो स्कूलों में हमने इसको किया पर वहाँ हमने इसको परीक्षा के लिए नहीं किया। मैं एक स्कूल में गया और वहाँ जाकर मैंने बच्चों से कुछ प्रश्न किए। टीचर ने कहा, इन चार बच्चों से मत पूछना ये आते ही नहीं हैं। बाक़ी से पूछना। मैंने कहा, नहीं, आज सब पढ़ेंगे। मैंने 20 प्रश्नों का एक प्रश्नपत्र सामने रख दिया और कहा कि सारे बच्चे पुस्तक खोलें और लिखें। सारे बच्चों ने उत्तर लिखना शुरू किया। उन चार ने भी लिखना शुरू किया। बाक़ी बच्चों ने लगभग 2 घण्टों में लौटा दिया, पर उन चार बच्चों ने थोड़ा ज़्यादा टाइम लिया। उन्होंने भी लिखकर वापस किया। तब उन चार बच्चों से पूछा कि आप लेट क्यों हुए? यदि

"ओपन बुक से
जो सम्भावनाएँ मुझे दिखती हैं
उसमें पढ़ने का कौशल
और समझने का
कौशल बढ़ सकता है।
ये दोनों ही कौशल महत्त्वपूर्ण हैं, पर
सवाल करने का कौशल
कैसे बढ़ेगा ये मुझे
आशंका है।"

पढ़ते तो थोड़ा जल्दी कर लेते। तो आज से पढ़ना है। उन्हें समझ में आया कि किताब पढ़ने से जवाब मिल सकते हैं तो वो पढ़ने की तरफ़ प्रेरित हुए। हमने उनको ओपन बुक से ऐसे प्रेरित किया। अब वो पढ़ रहे हैं तो परीक्षा की धारा में शामिल हो गए हैं। परीक्षा अच्छी है या बुरी, उधर मैं नहीं जा रहा। न ये कह रहा हूँ कि वो ओपन बुक से होनी चाहिए। मैं इस बात से काफ़ी हद तक असहमत हूँ कि परीक्षा ओपन बुक से होनी चाहिए, क्योंकि सारे बच्चों ने अलग-अलग तरीक़े से सालभर तैयारियाँ की हैं। कहीं-न-कहीं उन्हें हमें कहीं के लिए चुनना है। और चुनने की जब बात आती है तो हमें कोई-न-कोई स्केल वहाँ पर रखना पड़ता है। हम भले ही कुछ भी कह लें, पर हमें चुनना पड़ता है। ये एक व्यावहारिक बात है। तो अब हम कैसे चुनेंगे? हमें कोई-न-कोई तरीक़ा अपनाना पड़ता है। हम उसे कोई भी नाम दे दें।

रश्मि पालीवाल : तो आप ये मानते हैं कि ओपन बुक से करेंगे तो सब बच्चे अच्छा कर लेंगे?

राजेंद्र : नहीं, ऐसी बात बिलकुल नहीं है। यदि उन्होंने सालभर अच्छे-से नहीं पढ़ा है तो वो ओपन बुक से भी अच्छा नहीं कर पाएँगे। क्योंकि उन्हें टाइम लिमिट दी गई है तो ओपन बुक से भी वो जल्दी उत्तर नहीं ढूँढ़ पाएँगे। और उस दिन पढ़ाना हमारा उद्देश्य नहीं है। मेरा ऐसा मानना है कि जो बच्चे कक्षा में नहीं आते हैं वो ओपन बुक का महत्त्व समझकर पढ़ने की तरफ़ अग्रसर हो जाएँगे। अगर शुरू से ही हम ओपन बुक का इस्तेमाल करें तो वो छूटे हुए बच्चे भी मुख्य धारा में सभी बच्चों के साथ शामिल हो जाएँगे।

रश्मि पालीवाल : सिर्फ़ छूटें नहीं, उतनी ही बात नहीं है। जब आप ओपन बुक के विचार को शुरू से यूज़ करेंगे तो वो बच्चे न सिर्फ़ कंटेंट समझेंगे, बल्कि किताब को इस्तेमाल करने का तरीक़ा भी सीखेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर कहाँ मिलना चाहिए, मुझे उपशीर्षक कैसे देखने हैं। मुझे पढ़कर अपनी समझ बनाकर कौन-से उत्तर को लिखना है। तो वो कॉम्प्रिहेंशन और असेसमेंट भी सीखते जाएँगे। वो भी एक अच्छी और ज़रूरी स्किल है अपने-आप में।

राजेंद्र: तो वही मैं कह रहा हूँ कि यदि हम इस तरह से इसे यूज़ करें सालभर, तो फिर ओपन बुक टेस्ट करने में कोई प्रॉब्लम नहीं आएगी।

रश्मि पालीवाल : वो बात तो किसी भी प्रणाली के लिए ठीक है कि उसका प्रचलन शुरू से बने। जैसे– आप रीजनिंग के बारे में कह रहे थे या कोई भी अन्य चीज़, अगर शुरू से नहीं की तो अचानक परीक्षा में करने से वह तो ठीक नहीं होगा।

दीपेंद्र : ओपन बुक से जो सम्भावनाएँ मुझे दिखती हैं उसमें पढ़ने का कौशल और समझने का कौशल बढ़ सकता है। ये दोनों ही कौशल महत्त्वपूर्ण हैं, पर सवाल करने का कौशल कैसे बढ़ेगा ये मुझे आशंका है।

चित्र : पारुल बत्रा दुग्गल

पास-फ़ेल की नीति

रश्मि पालीवाल : इतनी देर हमने परीक्षा पर बात कर ली। लेकिन अभी तक हमने पास-फ़ेल पर कोई बात नहीं की, कहीं भी उसका ज़िक्र नहीं आया जबकि सारा जनमानस उस पर टिका हुआ है और राजनीतिक ताक़तें भी पास-फ़ेल को लेकर अपने-आप को काफ़ी कमिटेड फ़ील करती हैं।

अब फिर पाँचवीं और आठवीं की परीक्षाएँ लेने और पास-फ़ेल करने की बात हो रही है। लेकिन जैसी कि हमने पहले बात की, परीक्षा तो हम ले ही सकते थे। अपनी शिक्षण प्रक्रिया को बेहतर करने के लिए, अपने आत्मचिन्तन के लिए परीक्षा तो ली ही जा सकती है। आरटीई ने भी परीक्षा पर कोई रोक नहीं लगाई थी। परीक्षा कई उद्देश्य पूरे करती है। सिर्फ़ पास-फ़ेल करना ही एकमात्र उद्देश्य नहीं है। एक मानक बनाकर कि एक साल में ये आ जाना चाहिए, अगर नहीं आया तो फिर तुम रुको, और एक साल में दुबारा से करना। इस मान्यता पर सवाल उठे थे कि ये मानक कैसे तय हुआ कि मुझे इतना आ जाना चाहिए? कैसे पता लगा लिया कि मुझे नहीं आया? और अगर रुक जाऊँगा मैं एक साल पीछे, तो क्या अब आ जाएगा मुझे, जो मुझे अभी तक नहीं आया था? अगर नहीं आया तो क्या मैं रुका ही रहूँगा? मेरा क्या होगा? क्या मैं कहीं का नहीं रहूँगा? मेरी क्या हैसियत आप समाज के सामने रख रहे हो?

ये जो प्रश्न परीक्षा से जुड़े हैं क्या इनपर आप अपने विचार रखना चाहेंगे?

मुकेश : एक तो मैं इस तरह से देखता हूँ कि पूरे तंत्र में परीक्षा को ऐसा माना जाता है कि वह पढ़ने के लिए प्रेरित करती है। परीक्षा का भय पढ़ने की तरफ़ ले जाता है। और जैसे ही 4-5 साल परीक्षा से मुक्त हुए तो स्कूलों से ये फ़ीडबैक आया कि जो पढ़ने का भय था वो स्कूलों से ख़त्म हुआ। पढ़ने के प्रति जो बाध्यता थी वो परीक्षा के लिए थी। अब परीक्षा ही नहीं हो रही है तो स्कूलों में पढ़ाई भी नहीं हो रही है। शॉर्टकट यही है कि अब स्कूलों में पढ़ाई कैसे हो तो उसके लिए परीक्षा फिर से ली जाए। ये धारणा एक सामान्य समझ को प्रतिबिम्बित करती है।

पर जो काम करने वाले स्कूल थे वो पहले भी काम कर रहे थे। परीक्षा ख़त्म हो जाने से या परीक्षा की बाध्यता हो जाने से उन स्कूलों में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा।

पाराशर : मैं आरटीई का प्रबल समर्थक हूँ। और जो भी बात आप कह रही हैं उसके पक्ष में हूँ। आरटीई में कहीं भी परीक्षा पर रोक नहीं थी। केवल बात इतनी-सी थी कि पास-फ़ेल न करें। वो बड़ी आदर्श स्थिति भी थी। क्योंकि कई सारी स्टडीज़ में आया भी है कि बच्चे को जब आप फ़ेल करके पीछे करते हैं और वो एज़ एप्रोप्रिएट क्लास में नहीं बैठता है तो वो पिछड़ता जाता है। तो तरीक़े हमको खोजने होंगे। लेकिन ये तो बिलकुल ठीक नहीं है कि फ़ेल करके उनको पीछे करते जाएँ। उसके तरीक़े बहुत सारे हो

सकते हैं, ब्रिज कोर्स, रेमेडियल क्लासेस, वग़ैरह।

रश्मि पालीवाल : पर आप फ़ेल कैसे कर रहे हैं? यदि आप 50 आयाम पर बच्चे को देख रहे हैं और दो में वो कमज़ोर है, 30 आयामों में मध्यम है लेकिन बाक़ी में वो बहुत अच्छा है, तो फ़ेल की बात कैसे?

पाराशर : बिलकुल ठीक कह रही हैं। जैसे विधान सभा की कान्स्टिट्यूएंसी के लिए आपको 320 लोगों को चुनना है, वहाँ एक तय नम्बर है कि इतना ही होना चाहिए। अब 10 हज़ार वोट पाने वाला जीत गया। वो पाँच साल विधायक रहने वाला है। तो जहाँ हमारे पास ऐसा सिस्टम

"परीक्षा भी एक तरह से गणितीय ढंग से मैनेज करने की कोशिश करने का दावा करती है कि अंकों के आधार पर हम आपकी क्षमता आँक लेंगे। तो ये अंकों के आधार पर क्षमता के आकलन का दावा ही मुझे बुनियादी रूप से ग़लत लगता है।"

है कि हमें उतनी ही सीट या नम्बर चाहिए, वहाँ तो ये चीज़ें लागू होती हैं लेकिन शिक्षा में तो ऐसा नहीं है कि हमें इतने ही बच्चे पास करने हैं, तो फिर क्यों फ़ेल का तमगा लगा रहे हैं।

जहाँ पर कुछ लोगों में से हमें कोई दो लोग चाहिए तो आपको नियम बनाना पड़ेगा। जैसा नौकरियों में होता है। लेकिन एजुकेशन सिस्टम में आप पर ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि हमको इतने बच्चों को ही प्रमोट करना है तो फिर हम उन्हें क्यों रोक रहे हैं।

दीपेंद्र : योग्यता को लेकर मुझे ये कहना था कि अभी आपने जो नौकरी का उदाहरण दिया या अगर चयन करना हो तो कुछ-न-कुछ मापदण्ड बनाने पड़ेंगे। तो मुझे ये लगता है कि शिक्षा का बुनियादी आधार ही ये है कि योग्यता बहुत ही भिन्न-भिन्न प्रकार की है। एक मानदण्ड नहीं हो सकता है। शिक्षा ही मसलन ऐसा क्षेत्र है जिसमें बहुत ज़रूरी है कि हर व्यक्ति की यूनीकनेस को महत्त्व दिया जाए, उसकी विशेषता को महत्त्व दिया जाए। योग्यता अलग-अलग प्रकार की हो सकती है। इस बात को बुनियादी मान्यता दी जाए। ये जो संसार है जिसमें नौकरी वग़ैरह होती है, उसमें योग्यता के सिंग्युलर स्टैंडर्ड हो सकते हैं लेकिन शिक्षा में नहीं।

रश्मि पालीवाल : ख़ासकर कंपल्सरी एजुकेशन वाले स्टेज पर तो बिलकुल नहीं। जैसे मैंने आगे चलकर तय किया कि डॉक्टर बनना है, तो ठीक है ये मेरा निर्णय है। मैं इसकी तैयारी करूँगी, इसकी परीक्षा भी दूँगी और उसमें पास-फ़ेल का सामना भी करूँगी। लेकिन जहाँ पर कंपल्सरी एजुकेशन में हूँ वहाँ आप कैसे कह सकते हैं कि मैं फ़ेल हो गई हूँ। मैं तो जीती-जागती व्यक्ति हूँ, जीवित हूँ। मैं फ़ेल कैसे हो सकती हूँ।

दीपेंद्र : मुझे इसकी बुनियादी दिक़्क़त गणित में लगती है। मैथेमेटिक्स है वो प्रबन्धन का काम करता है, व्यापक स्तर पर पॉपुलेशन को मैनेज करने का काम करता है। परीक्षा भी एक तरह से गणितीय ढंग से मैनेज करने की कोशिश करने का दावा करती है कि अंकों के आधार पर हम आपकी क्षमता आँक लेंगे। तो ये अंकों के आधार पर क्षमता के आकलन का दावा ही मुझे बुनियादी रूप से ग़लत लगता है। यह पूरी-की-पूरी गणितीय प्रणाली है। एक संख्यात्मक प्रणाली है। एक संख्यात्मक प्रणाली के आधार पर आप किसी व्यक्ति का मूल्यांकन कैसे कर सकते हैं, जिसमें फ़ीडबैक की सम्भावना ही नहीं है।

रश्मि पालीवाल : ग्रेड हो सकते हैं। नम्बर या परसेंटेज न होकर ग्रेड में अगर बात हो तो?

दीपेंद्र : ग्रेड भी एक तरह का क्लास है। आपने चार वर्ग बना लिए हैं। वो भी एक तरह

की मैथेमेटिक्स है कि आप उसमें चार वर्गों में सारे बच्चों को फ़्रेम कर रहे हैं। ये फ़्रेमीकरण भी मुझे अनुपयुक्त लगता है। व्यवस्था तो गणित के आधार पर बड़ी पॉपुलेशन को मैनेज कर सकती है। बड़ी जनसंख्या को कम्प्यूटर में फ़ीड कर सकती है। डेटा फ़ीड कर सकती है। हर व्यक्ति उसके लिए डेटा है। हर व्यक्ति की क्षमता उसके लिए डेटा ही तो है। इस डेटा की समस्या से हम कैसे जूझेंगे, इसपर हमें सोचना पड़ेगा। इससे तभी निपट सकते हैं जब हम योग्यता और कौशल को हासिल करने की प्रक्रिया की गहराई और उसके विस्तार में जाएँगे। दरअसल तब ये सिर्फ़ डेटा नहीं बल्कि क्वालिटेटिव डेटा होंगे।

राजेंद्र : मेरा ये अनुभव है कि हम शिक्षकों को ये समझाने में नाकामयाब रहे हैं कि बच्चों को सिखाना ज़रूरी है, परीक्षा नहीं। कोई चीज़ वो कर पाएँ ये ज़रूरी है, अंक ले आएँ ये ज़रूरी नहीं। जैसे मैं किसी पेरेंट को पूछूँ कि ये मशीन चलाना आता है तुम्हारे बच्चे को, ये ज़रूरी है या ये ज़रूरी है कि बच्चा ये लिख दे कि मशीन कैसे चलाते हैं? तो अभिभावक भी यही कहेंगे कि मशीन चलाना आना ज़्यादा ज़रूरी है। तो अब हम बच्चे को मशीन चलाना सिखाएँ।

कहा गया कि टीचर्स पढ़ा नहीं रहे हैं और टीचर्स जिस परम्परा में हैं वहाँ पर पढ़ना मतलब परीक्षा होता है। पढ़ना मतलब अगली कक्षा में जाना होता है– हम इस रूढ़ि से आज़ाद नहीं हुए। परीक्षा के ख़त्म होने से हमारी पढ़ाई में डाइल्यूशन आ गया। कुछ ऐसा मुझे लगता है। पहले शिक्षक को भरोसे में लेना ज़रूरी था। पेरेंट्स को भरोसे में लेना ज़रूरी था।

रश्मि पालीवाल : तो ये सांस्कृतिक दृष्टि की बात है ना। जब एक सांस्कृतिक मूल्य का प्रसार

चित्र : पारुल बत्रा दुग्गल

होता है और उसको एक सुदृढ़ नेतृत्व नहीं मिलता है तो क्रियान्वयन में, लोगों के समझने में एक हॉच-पॉच रहता है। उसपर टाइम लगता है। ये सोचना कि लोग दो साल में समझ लेंगे ये बहुत ग़लत बात है। सांस्कृतिक बदलाव पीढ़ियों में होते हैं। पीढ़ियों तक उस दिशा में नेतृत्व करने और कमिटमेंट बनाए रखने की ज़रूरत होती है। वहाँ जब डाँवाडोल होंगे तो फिर क्या उम्मीद की जा सकती है।

दीपेंद्र : मेरा ये मानना है कि अगर आप आरटीई में शिक्षा का अधिकार दे रहे हैं, तो अधिकार की सिर्फ़ मूल भावना को देखिए। वैसे हमारे समाज में बच्चों के अधिकार को स्वीकार्यता नहीं है। हम मानते ही नहीं कि बच्चों

"सवाल ये है कि सीसीटीवी से देखोगे तो टीचर और छात्र का स्वाभाविक रिश्ता बिगड़ेगा और सीखने–सिखाने की प्रक्रिया भी प्रभावित होगी। तो ये डर और दबाव बनाने का पूरा जो कर्म है उसके लिए कितने तौर–तरीक़े अपनाए जा रहे हैं।"

के कुछ अधिकार होते हैं। अगर बच्चों का कुछ अधिकार है तो फिर आपको उसे रोकने का अधिकार नहीं। ये अधिकार की मूल भावना की ही अवमानना है।

रश्मि पालीवाल : बिलकुल। एक तरह से ये कॉन्ट्राडिक्शन इन टर्म्स है। एक तरफ़ हम राइट कह रहे हैं और फिर डिटेन्शन कर रहे हैं।

मुकेश : मैं इन सारी बातों से पूरी तरह सहमत हूँ। सहमत होते हुए कह रहा हूँ और वो ठीक से दर्ज हो जाएँ इसलिए फिर से रिपीट कर रहा हूँ। ऐसी परीक्षा जो शिक्षक के कंट्रोल में नहीं है, जिसमें बच्चे की कॉपियाँ कहीं बाहर जाँची जा रही हैं और जिसपर ये तय हो रहा है कि तुमने ठीक से काम किया कि नहीं– ये सब उस शिक्षक को अपने काम की तरफ़ गम्भीर होने के लिए, ज़िम्मेदार होने के लिए एक भय पैदा करता है। हमारे सरकारी सिस्टम में काम करने के लिए भय एक अनिवार्य तत्त्व है। ये मैं दर्ज कराना चाहता हूँ।

हालाँकि भय एक नकारात्मक और ग़लत तत्त्व है काम कराने के लिए। पर ऐसे बृहद सरकारी सिस्टम में थोड़ा-सा डर के माध्यम से अपने काम के प्रति ज़िम्मेदारी पैदा करने के लिए अगर ये निर्णय है तो मैं इसे उचित मानता हूँ।

गुरबचन : ये जो आप कह रहे हैं टीचर में डर से प्रेरणा आने की बात तो आप देखिए कि टीचर के साथ निगरानी का शिकंजा किस तरह बढ़ता जाएगा। उसे एक एप दिया जाएगा जिसमें उसको उपस्थिति क्लिक करके दर्ज करना है, उसको कहीं दूर बैठकर कोई मॉनीटर करेगा। और तो और, अब तो सीसीटीवी क़ैमरे लगाने की सिफ़ारिश की जा रही है। स्कूलों में आपको देखा जाएगा। आप बच्चों के साथ किस तरह काम कर रहे हैं। सवाल ये है कि सीसीटीवी से देखोगे तो टीचर और छात्र का स्वाभाविक रिश्ता बिगड़ेगा और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया भी प्रभावित होगी। ये डर और दबाव बनाने का पूरा जो कर्म है उसके लिए कितने तौर-तरीक़े अपनाए जा रहे हैं।

रश्मि पालीवाल : हो सकता है एक लिमिटेड उद्देश्य के लिए ही सही, उस तरह की स्ट्रिक्ट मॉनीटरिंग और उस तरह से शासन की गम्भीरता का एक अहसास शायद शिक्षकों को उनके काम पर वापस पहुँचा दे। क्योंकि अभी तक एक उलटा सन्देश था कि सब चलता है। प्रायवेट में बच्चे जा रहे हैं तो अच्छा है। हमें तो प्रायवेट ही सब करना है। यदि इसके उलट ये सन्देश जाता है कि सरकारी तंत्र को लेकर हम गम्भीर हैं, इसको चलाना है। जिस भी कारण से ये हो रहा हो, तो ठीक है एक लिमिटेड अर्थ में, हम उसका एक उपयोग देखते हैं।

दीपेंद्र : मेरा आपसे एक काउंटर सवाल है। मसलन आपने ये माना कि लिबरल मॉडल विफल हो रहा है, हो सकता है, होगा। है न! इसके बरक्स अथॉरिटेरियन मॉडल या अधिकारवादी जो मॉडल है वो सफल हो सकता है क्योंकि सरकार तो एकदम तटस्थ हो गई है। अथॉरिटेरियन मॉडल के जो उपकरण हैं उसमें नियंत्रण, रिपोर्ट्स, समीक्षा वग़ैरह महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बूते ये मॉडल कैसे सफल होगा।

मुकेश : दीपेंद्रजी, मैं ये भी कह रहा हूँ कि मैं लिबरल मॉडल को वैचारिक रूप से बहुत बेहतर मानता हूँ। और अगर आप लम्बे समय के लिए कोई परिवर्तन चाहते हैं तो वो इसी मॉडल से आएगा। परन्तु मैं ये देखता हूँ कि इसका समुचित फैलाव कितना मुश्किल है।

रश्मि पालीवाल : अथॉरिटी बारीक़ियों की अनदेखी करती है, बस रूल फ़ॉलो करती है। ऐसा मॉडल कितनी दूर तक चल पाएगा उसके बारे में हम सबको पुनर्परीक्षण करना चाहिए।

अनिल : और दूसरा मैं इस बात में जोड़ना चाहूँगा कि इसकी वजह से डर, दबाव, तनाव बच्चों में परकुलेट होता है तो ये तो बहुत मुश्किल खड़ी करेगा।

गुरबचन : मुख्य सवाल ये है कि अगर बच्चे को फ़ेल करते हैं, या बच्चे को रोकते हैं, तो इसके दूरगामी परिणामों को देखना होगा। फ़ेल होते कौन हैं? या कक्षा में रोके कौन जाते हैं? ये बच्चे वही हैं जो पहली पीढ़ी के लिखने-पढ़ने वाले हैं। ये वंचित समाज के हैं, ग़रीब वर्ग से हैं। उनके लिए पाँचवीं और आठवीं का सर्टिफ़िकेट बहुत अहमियत रखता है। ख़ासतौर से उन बच्चों के लिए जो जैसे-तैसे स्कूलों तक पहुँच पाए हैं। उसे तो मार्कशीट के बिना 2000 रुपए की नौकरी भी हाथ से छूटती नज़र आती है।

इस पूरे सामाजिक सन्दर्भ में हमें इस बात को देखने की ज़रूरत है। और ये मानना कि इन नीति-निर्धारकों को ये छोटी-सी बात समझ में नहीं आती, ये बिलकुल झूठ है। ये पूरी तैयारी के साथ है कि क्यों रोकना ज़रूरी है। रोकना इसलिए ज़रूरी है कि बड़ी कक्षाओं में ज़्यादा बच्चे न आएँ। नौकरियों के अवसर कहाँ और किनके लिए पैदा करना है, वहाँ किए जाएँगे, जिनके लिए नहीं करना, उनको बाहर किया जाएगा, वो कहीं भी जाएँ। इसके जो सामाजिक निहितार्थ हैं, वो बहुत गहरे हैं और उसपर कभी बातचीत नहीं होती।

रश्मि पालीवाल : जो बच्चे पीछे रुक जाते हैं या जो आठवीं में दूसरी कक्षा का पाठ भी नहीं पढ़ पा रहे होते, उसका कारण क्या रहा होगा वो कभी हमने रिकग्नाइज़ किया कि नहीं? जो बच्चा 8 साल रहा स्कूल में और पढ़ना नहीं सीख पाया, हो सकता है उसकी कोई विशेष आवश्यकता होगी। कोई ज़रूरी नहीं कि शिक्षा का स्तर या कोई शिक्षक नहीं पढ़ा रहा,

" अथॉरिटी बारीक़ियों की अनदेखी करती है, बस रूल फ़ॉलो करती है। ऐसा मॉडल कितनी दूर तक चल पाएगा उसके बारे में हम सबको पुनर्परीक्षण करना चाहिए।"

ये चीज़ें ही ज़िम्मेदार हों। उसको कोई विशेष ज़रूरत होगी, ये हमने ध्यान ही नहीं दिया। ये भी हो सकता है कि लर्निंग स्पीड (लर्निंग पेस) अलग हो। ये भी हो सकता है कि कुछ बच्चे तीसरी कक्षा में पढ़ना सीख पाते हैं। कुछ चौथी में ही सीखेंगे, क्योंकि आपकी टीचिंग का लेवल भी तो अलग ही है। तो बच्चे बेचारे कहीं शिक्षक से, कहीं परिवार से, थोड़ा किताब से लिया या थोड़ा साथियों की मदद से, किसी तरह हाथ-पैर मारकर अपना रास्ता बना रहे हैं। उनको रास्ता तो बनाने दो। वो उस लेवल का पढ़ना दूसरी में,

तीसरी में नहीं सीख पाया। पाँचवीं में सीख लिया। उसने अपना रास्ता तो बनाया। आप कौन-सा उसको सुनहरा मार्ग बिछाकर दे रहे हो कि वो चल नहीं पाया।

सुधाकर पाराशर : आपने एकदम असल बात की मैडम। आप देखो यहाँ डीपीएस में कौन-से बच्चे पढ़ रहे हैं। यहाँ जो बच्चे पढ़ रहे हैं उनके पालक इतने समर्थ हैं कि उनकी 90 परसेंट की तैयारी है। इतना होमवर्क है। वो इतनी मेहनत कर रहे हैं बच्चों पर। उनके बच्चों के पास इतनी ई-बुक्स हैं, इतनी किताबें हैं, इतना मटेरियल, इतनी सुविधाएँ हैं कि उनके पीछे लगे हुए हैं पूरी तरह से।

''सरकारी सिस्टम में लोगों का भरोसा पैदा करना होगा। समुदाय की दृष्टि से भी हमें सोचना होगा। बच्चों के साथ पालकों के बारे में भी एक सरोकारी दृष्टि बनानी होगी। स्कूल में बच्चों का हौसला और आत्मविश्वास बढ़ाना होगा। प्राइवेट स्कूलों से भी हमें काफ़ी सीखने की ज़रूरत है।''

दूसरी तरफ़ हमारा सरकारी स्कूल का बच्चा है कि उसका जो कुछ भी होना है वो स्कूल में होना है। उसका पिता तो शाम को मज़दूरी करके आ रहा है, ठेला लगाकर आ रहा है। हमारे स्कूलों में जिस तरह के बच्चे आ रहे हैं उन्हें घर में, सोसायटी में, कहीं सपोर्ट नहीं मिल रहा। उनके लिए पढ़ाई-लिखाई होमवर्क एक तरह का बोझ है। तो ये चीज़ भी हमको महसूस करनी होगी कि हमारे जो बच्चे हैं उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ जो हैं वो बिलकुल अलग हैं। और उस बच्चे पर अधिक मेहनत की, अधिक ध्यान देने की ज़रूरत है। वो कमज़ोर नहीं है, सिर्फ़ संसाधनों की कमी है।

और ऐसा भी नहीं है कि बहुत निराश हुआ जाए। इतनी सारी चर्चा के बाद मैं कहना चाहूँगा कि हमारे सरकारी सिस्टम में भी ऐसे बहुत सारे टीचर हैं जो दूरदराज़ के इलाक़ों में भी लगे हुए हैं अपनी भूमिका के निर्वाह में। उनका दायित्व बोध काफ़ी ऊँचा है। और उसका परिणाम भी आ रहा है। तो ये कह देना कि पूरा तंत्र ऐसा है ठीक नहीं।

रश्मि पालीवाल : सही बात है। ये जो भिन्नता है न, इसका भी हमें एक गणितीय मॉडल बनाना चाहिए। क्योंकि हम लोगों में भी तो भिन्नता है। शिक्षकों में भी है।

पाराशर : लेकिन मैं हमेशा से इस पक्ष में हूँ कि नवाचार अपनाए जाने चाहिए। जैसे– प्रायवेट स्कूल में बच्चा रिपोर्ट कार्ड लेकर जाता है तो छोटी-छोटी बातें इंगित कर दी जाती हैं कि आपका बच्चा इन-इन चीज़ों में अच्छा है। हम भी ऐसा करें न। हम फ़ेल की मार्कशीट देने की बजाय उसकी चार अच्छी बातें लिखें। हम भी लिखें कि आपका बच्चा मेहनती है, आपका बच्चा स्पोर्ट्स में आगे है, आदि। हम तारीफ़ करने में कंजूसी क्यों करते हैं?

रश्मि पालीवाल : क्योंकि आपकी भी तारीफ़ किसी ने नहीं की।

पाराशर : इस सिस्टम में लोगों का भरोसा पैदा करना होगा। समुदाय की दृष्टि से भी हमें सोचना होगा। बच्चों के साथ पालकों के बारे में भी एक सरोकारी दृष्टि बनानी होगी। स्कूल में बच्चों का हौसला और आत्मविश्वास बढ़ाना होगा। प्राइवेट स्कूलों से भी हमें काफ़ी सीखने की ज़रूरत है।

प्रयोगधर्मी स्कूल

गुरबचन : कुछ प्रयोगधर्मी स्कूलों के बारे में बात कर लें।

रश्मि पालीवाल : वैसे तो वो बातें आ चुकी हैं चर्चा में। फिर भी कुछ बातें बताना चाहूँगी। जैसे हम पढ़ते हैं समरहिल्स स्कूल के बारे में

इंग्लैंड में या अमरीका में सडबरी वैली स्कूल है। वो अपने बच्चों की परीक्षा नहीं लेते। वो ये बात कहते हैं कि हँसी-मज़ाक के लिए, मज़े करने के लिए, किसी ने कुछ काम दे दिया कि चलो ये पहेली हल करते हैं या प्रश्नपत्र बना दिया मज़े का कि चलो सब लोग करते हैं। तो इस तरह सीखना पढ़ना भी मज़े के लिए करते हैं। पास-फ़ेल करने के लिए नहीं, या कितना जानते हो, देखने के लिए नहीं। वो फ़न वर्कशीट होती है। उनकी ये सोच है कि हर व्यक्ति को पता होता है कि उसे क्या नहीं आता।

अगर मैं अच्छी हैंडराइटिंग लिखना सीख रही हूँ या चाय अच्छी बनाना सीख रही हूँ या गणित कर रही हूँ, जो भी कुछ करना चाहती हूँ उसमें स्वमूल्यांकन व्यक्ति करता रहता है। उसको पता होता है। उसे किसी को बताने की ज़रूरत नहीं होती कि तुम इतना हो, इतना नहीं हो। यदि व्यक्ति कुछ करना चाहता है तो वो उस विधा के लोगों को देखता रहता है, सीखता रहता है। क्योंकि वो जानना चाहता है कि इसे कैसे करना है, मुझसे तो बना नहीं, मेरा तो इतना अच्छा बना नहीं था। तो व्यक्ति ख़ुद अपना आकलन करके उस विधा को सीखने के लिए तत्पर रहता है। इसमें किसी बाहरी व्यक्ति को बताने की ज़रूरत नहीं पड़ती। एक तो ये बात मुझे काफ़ी अच्छी लगी थी। ये बात वाक़ई में सही है। और दूसरी बात ये कि जब कोई व्यक्ति ये तय करता है कि मुझे फलानी परीक्षा अपने लिए पास करनी है, मैं वो परीक्षा पास करके डॉक्टर बनना चाहता हूँ, मैं इंजीनियर या टीचर बनना चाहता हूँ, तो उसके लिए तैयारी करता है, परीक्षा देता है और पास-फ़ेल का सामना भी करता है। जब बच्चा तय करता है कि मुझे 12वीं की परीक्षा देनी है या कोई-सी भी परीक्षा देनी है तब ये उसका अपना निर्णय होता है। ख़ूब खेल लिया, ख़ूब मस्ती कर ली। क्लास में आया, नहीं आया। जितनी मर्ज़ी समझा, नहीं समझा।

जब उसने ख़ुद ने तय किया कि मुझे करना है तब वो उसे वाक़ई गम्भीरता से लेता है। तब वो यह पूछता है कि मुझे ये बता दो, मुझसे ये नहीं हो रहा। तो जब वो ख़ुद पूछने आता है तब ही वे उसको बताते हैं। जब तक बच्चा ख़ुद पूछने नहीं आए वे उसे कुछ नहीं सिखाते। जब वो ख़ुद सीखना चाहता है अपने निर्णय से, तब सिखाते हैं। तब वो किसी भी तरह से सीख जाता है।

गुरबचन : एक प्रयोगधर्मी स्कूल से जुड़े होने के नाते अनिल के भी अनुभव हैं, तो उन्हें भी साझा करें।

अनिल : दीपेंद्रजी की एक बात एक्सटेंड करूँगा कि जो आपने कहा कि व्यवस्था में गणितीय प्रबन्धन पर ज़्यादा ज़ोर रहा है इसलिए योग्यता और कौशल जैसी बात भी आँकड़ों में फँसी रहती है। उसके बारे में मैं अपने अनुभव से यही कहना चाहूँगा कि गुणवत्ता आकलन की प्रणाली थोड़ी श्रमसाध्य और जटिल है। वह एक ख़ास तरह की दृष्टि की माँग करती है, जिसमें मानवीय पहलुओं को देखने की उदारता और खुलापन होना बहुत ज़रूरी है। इस प्रणाली की

चित्र : पारुल बत्रा दुग्गल

अपनी सीमाएँ हो सकती हैं। मैं एक ऐसे विद्यालय से जुड़ा हूँ जो बच्चों के सीखने के सन्दर्भ में इस तरह की वैकल्पिक व्यवस्थाओं पर भरोसा रखता है। हम भी इस तरह की औपचारिक परीक्षाओं पर विश्वास नहीं रखते और बच्चों के सीखने के क्रम में ही उसे देखते हैं। हर रोज़ की कक्षा प्रक्रियाओं में अवलोकन के साथ ही हम सालभर में एक बार एनुअल असेसमेंट करते हैं जिसमें सभी टीचर्स मिलकर उस बच्चे के बारे में अपनी समझ और राय बनाते हैं। उसमें बच्चे की भी भागीदारी होती है और पालकों की भी, और बच्चों के सहपाठियों की उसके बारे में क्या राय है यह भी शामिल होता है। इसी तरह सालभर बच्चे ने जो काम किया उसके फ़ीडबैक,

"गुणवत्ता आकलन की प्रणाली थोड़ी श्रमसाध्य और जटिल है। वह एक ख़ास तरह की दृष्टि की माँग करती है, जिसमें मानवीय पहलुओं को देखने की उदारता और खुलापन होना बहुत ज़रूरी है। इस प्रणाली की अपनी सीमाएँ हो सकती हैं।"

वर्कशीट, उसके रजिस्टर हैं, टीचर्स डायरी हैं। ऐसा सब मिलाकर 4-6 पेज का राइटअप होता है वो हम बनाते हैं। इसमें अंकों का, ग्रेड का, कोई ज़िक्र नहीं होता है। बच्चे की तफ़सील होती है। विषयगत अकादमिक दक्षताओं का भी ब्योरा उसके कक्षा के अवलोकनों और उदाहरणों के साथ रहता है।

इससे जुड़ा एक अनुभव साझा करना चाहूँगा जो आज की इस चर्चा के सन्दर्भ में काफ़ी प्रासंगिक है। स्कूल के एक अभिभावक किसी वजह से भोपाल से बाहर ट्रांसफ़र हुए। उन्हें अपनी बच्ची को दूसरी जगह एडमिशन कराना था। हमने उन्हें टीसी और एक 6 पेज का राइटअप बच्ची के बारे में दे रखा था। चौथी कक्षा में उस बच्ची का दाख़िला होना था। उस विद्यालय में उन्होंने हमारी दी हुई टीसी और ये 6 पन्नों का राइटअप दे दिया। इसपर क्लर्क ने कहा, ये तो ठीक है, वो कहाँ है। तो पेरेंट्स ने पूछा, वो मतलब? क्लर्क ने जवाब दिया, मार्कशीट। पेरेंट्स ने बताया, वो तो स्कूल देता ही नहीं। जो है बस यही है। क्लर्क ने फिर पूछा, ये स्कूल ही है न जहाँ से आई है बच्ची? पेरेंट्स ने कहा, हाँ स्कूल है, उसका डाइस कोड है और वो शासन द्वारा मान्यताप्राप्त है।

बस वो परीक्षाएँ नहीं लेते, और अब तो राइट टू एजुकेशन के तहत परीक्षाएँ ली भी नहीं जातीं। तो फिर क्लर्क का जवाब था, परीक्षाएँ ली नहीं जातीं पर वो काग़ज़ तो बनाया जाता है न! पेरेंट्स ने कहा, जो भी है ये 6 पेज का राइटअप ही है। इसको पढ़ लीजिए। उन्होंने कहा, हमें इसमें से कुछ समझ नहीं आएगा। अब पेरेंट्स ने फिर पूछा कि हमारी बच्ची को एडमिशन तो मिल जाएगा कि नहीं? क्लर्क ने कहा, प्रिंसिपल मैम बोल दें तो कुछ बात बन सकती है। उन्होंने कहा, ठीक है मैं जाता हूँ। वो 6 पेज का राइटअप और टीसी लेकर गए। प्रिंसिपल मैम से बात की। पेरेंट्स अवेयर थे, आरटीई के बारे में बात कर रहे थे और असेसमेंट के मसले को समझते थे।

उन्होंने कहा, आप कहें तो मैं विद्यालय के संचालक से बात करा सकता हूँ। मैडम ने कहा, इसकी कोई ज़रूरत नहीं। उन्होंने क्लेरिकल स्टॉफ़ को फ़ोन किया कि एडमिशन की प्रोसेस कर लो। इस तरह बच्ची का कक्षा 4 में एडमिशन हो गया। पेरेंट्स ने क्लर्क से पूछा, अब एडमिशन कैसे हो गया, मुझे ज़रा बताइए। क्लर्क ने कहा, हमारे कम्प्यूटर में जो प्रोग्राम है वो इस तरह का डेटा लेता है कि हिन्दी में इतने नम्बर, गणित में इतने और साइंस में इतने। फिर उसके मुताबिक़ एडमिशन होता है। तो पेरेंट्स ने जो बात कही, दरअसल वह इस किस्से का केन्द्रीय भाव है। उन्होंने कहा, तो भैया अपने कम्प्यूटर के सॉफ्टवेयर में आप बदलाव करो ताकि वो 6 पन्नों

के इस राइटअप को समझ सके, न कि आप पलटकर हमपर दबाव बनाओ कि वो काग़ज़ लाओ जिसपर अंक लिखे रहते हैं।

ये एक अनुभव सिखाता है कि ये जो जड़ता है इसमें बदलाव की ज़रूरत है। ये जो पुराने प्रोग्राम और सॉफ़्टवेयर हैं। उनमें बदलाव की ज़रूरत है। इन 6 पन्नों की ग्राह्यता कैसे बने कि ये जो लिखा है ये एक बच्ची के बारे में ही है, जो बताता है कि कितने आयामों में क्या-क्या है वो बच्ची।

क़ानून और शासन की मंशा के अनुसार ही, जैसा भी चला हो, 5-6 साल तक सीसीई के अभ्यास ने भी कहीं कुछ असर नहीं डाला। वो इसीलिए कि इसका क्रियान्वयन करने वाले लोगों का नया परसेप्शन ही नहीं बना। उसमें कई स्तर पर नाकामियाँ गिनाई जा सकती हैं। उसमें बदलाव की ज़रूरत है। परीक्षा लेना और पास-फ़ेल में बच्चों को बाँटना प्रतिगामी क़दम होगा।

गुरबचन : इसी तरह का अनुभव हमारा भी रहा। टीकमगढ़ में एक स्कूल हम चलाते थे और प्रोजेक्ट के तहत वैकल्पिक पाठ्यक्रम बनाने की प्रक्रियाओं पर हमने काम किया। उसी स्कूल में मेरी बेटी भी पढ़ती थी। 3 साल तक पढ़ा उसने। उसके बाद 6वीं में एक स्कूल में एडमिशन के लिए गए। उसका रिपोर्ट कार्ड भी डिस्क्रिप्टिव था। स्कूल उसे एक्सेप्ट करने को तैयार नहीं था। लेकिन चूँकि मैं शिक्षा विभाग में था तो जानता था ये कैसे सम्भव होगा। तब तक जन शिक्षा अधिनियम भी नहीं बना था। मध्यप्रदेश शासन की एक शिक्षा संहिता थी। उसमें एक प्रावधान था कि किसी भी बच्चे का टेस्ट लेकर उसकी योग्यता का आकलन किया जा सकता है और उसे यथोचित कक्षा में एडमिशन दिया जा सकता है। एडीआईएस ने लिखकर भी दिया और स्कूल प्रिंसिपल ने जस्टीफ़ाई भी किया। बेटी का एडमिशन हो गया। हालाँकि बाद में इस विषय पर पेपरबाज़ी भी हुई। क्योंकि मेरे कारण यह एक व्यक्ति विशेष की बच्ची का मामला बन गया था। बाद में प्रोफ़ेसर कृष्ण कुमार ने इस विषय पर एक आलेख लिखा कि चूँकि आप बच्ची को नहीं जानते और बच्ची अपना तर्क आपके सामने रख नहीं सकती, इसलिए आपको उसके बारे में ऐसा लिखने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। बाद में अख़बार को एक्सक्यूज़ करना पड़ा।

इस अनुभव से मैं यह सवाल कर रहा हूँ कि जो बच्चे इस सिस्टम में परीक्षा पास किए बग़ैर रहते हैं उन्हें मुश्किल कितनी होती है। नौकरीभर की बात नहीं है लेकिन अपनी शिक्षा को जारी रखने में भी कितनी बाधा होती है। ये परीक्षा का जो ढाँचा है उसकी ये जो जड़ता है उसमें बच्चे की अपनी योग्यता का, उनकी समझ का, कोई स्थान बनता ही नहीं।

राजेंद्र : इन सब बातों के लिए मुझे शिक्षक को मॉनीटरिंग सपोर्ट प्रोवाइड करने का रोल काफ़ी महत्त्वपूर्ण समझ में आता है। वह काफ़ी विस्तृत विषय भी है। मुझे लगता है कि अगला संवाद हमें मॉनीटरिंग विषय पर रखना चाहिए।

रश्मि पालीवाल : बिलकुल ठीक। तो पाठशाला के छठवें अंक के लिए थोड़ी और तैयारी के साथ हम मॉनीटरिंग सपोर्ट विषय पर संवाद आयोजित करेंगे।

आप सभी इस संवाद में उपस्थित हुए और अपने अनुभवों व सुझावों के साथ इस चर्चा में सक्रिय रूप से भागीदार बने, इसके लिए आप सबका आभार।

मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन फॉर डेवलपमेंट के लिए अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, प्लॉट नं. 163-164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव सोसाइटी, E-8 एक्सटेंशन, त्रिलंगा भोपाल, मध्यप्रदेश 462039 की ओर से प्रकाशित एवं गणेश ग्राफ़िक्स, 26-बी, देशबंधु परिसर, प्रेस काम्प्लेक्स, एम.पी. नगर, जोन-1 भोपाल द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : गुरबचन सिंह